पण्डित मधुसूदन ओझा का गीताविषयक चिन्तन
चिन्तन की स्वस्थ समग्र भारतीय परम्परा का अनुपम निदर्शन

पण्डित अनन्त शर्मा
भारतीय विद्यामनीषी
पीठाचार्य-वेद पुराण स्मृति शोधपीठ
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

गीता से सम्बंधित 25 से 42 तक के 18अध्यायों के ठीक पहले और बाद में अर्थात् 24 वें तथा 43 वे अध्यायों को देखने से स्पष्ट होता है कि इस बीच कुछ हुआ ही नहीं हो। 24 वें अध्याय का वर्णन है कि दोनों पक्षों के सैनिक अत्यन्त हर्षोन्मत्त थे, व्यूहबद्ध सेना का महान् सम्मर्द था, गाजेबाजों की ध्वनियाँ हो रही थीं। सैनिक स्व-पर-पक्ष सैनिकों को आपस में देख रहे थे हाथी-घोड़ों की ध्वनि एवं अन्य कोलाहल जोर शोर पर था। 25 वें अध्याय (गीता के प्रथम अध्याय) का प्रारम्भ इसी क्रम को बढाता है। पितामह भीष्म का शंखनाद सुनकर दोनों सेनाओं के वीरों का शंखनाद होता है, अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य आ कर सभी सैनिकों पर दृष्टि डालता है तथा विषादमग्न हो रथ के उपस्थ में जा बैठता है। अब 43 वें अध्याय का प्रारम्भ होता है कि शर एवं गाण्डीव धारण किये धनञ्जय को देखकर महारथी उत्साह में महानाद कर रहे थे। इसी समय युधिष्ठिर कवच उतार कर शास्त्र छोड़ कर रथ से उतर कर हाथ जोडे हुए पैदल ही पितामह भीष्म की ओर चल पड़े। सभी को आश्चर्य होता है वीर श्रेष्ठ इसे युधिष्ठिर की कायर न समझ कर अनेक अवाच्यवाद कहने लगे। दोनों पक्षों में नाना प्रकार की विभिन्न बातें होने लगी। उस समय अर्जुन की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं, कि प्राचीन शिष्टाचार है कि गुरुजनों से युद्ध का अवसर आ पडने पर विनम्र भाव से उनकी अनुमति ले कर युधिष्ठिर विपक्ष के सैनिकों को स्वपक्ष में आने को आमान्त्रित करते हैं तथा युयुत्सु इनके पक्ष में आ जाता है, तब युद्ध चलता है।

इस प्रकार गीता का प्रवचन काल इस दृष्टि से 5-6 पल का भी प्रतीत नहीं होता। इससे सिद्ध है कि आधिकारिक श्रीकृष्ण की मनीषा गीतोपदेश के लिए कार्यरत है।

अर्जुन एवं कृष्ण के जिस प्रकार के सम्बन्ध हैं तथा देवल नारद व्यांस आदि ऋषियों के मुख से श्रीकृष्ण की महिमा को अनेक बार सुनने समझने वाला अर्जुन श्रीकृष्ण के प्रति श्रद्धा का भाव रखता है उसके अनुसार तो कृष्ण की -

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषये समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥ 2/2

(अर्जुन ! इस विषय परिस्थिति में तुम्हें अनार्यसेवित, स्वर्गभ्रंशक अकीर्तिकर यह कश्मल कैसे दबोच रहा है) इस मीठी झिड़क के साथ

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥ 2/3

(पार्थ ! तुम क्लीब भाव को मत अपनाओ यह तुम्हारे लिए उत्पन्न नहीं है। परन्तप ! इस क्षुद्र हृदय की दुर्बलता को छोड़ कर उठो।)

यह उद्बोधनपूर्ण आदेश अर्जुन को युद्ध में लगाने हेतु पर्याप्त था, आगे कुछ कहने सुनने को अवसर ही नहीं था । यह युद्ध भी कोई आकस्मिक घटना नहीं था। कौरवों के अमानवीय अत्याचार वे बचपन से ही सहते आ रहे थे। लाक्षागृह में जीवित जलाने का षड्यन्त्र, द्यूत के छल से सर्वस्थ छीन लेना भरी सभा में उन्हें व द्रौपदी को भयंकर अपमान से पीडित करना, बारह वर्ष का वनवास का कष्ट, तेरहवें वर्ष की अज्ञातचर्या, वहाँ भी कीचक से द्रौपदी का उत्पीडन सभी कुछ अर्जुन को अमर्षपूरित किये हुए था। भीम द्रौपदी व कुंती का उद्बोधन इस अमर्ष का इन्धन था, कई मास का सैन्योद्योग अमर्षानल में हवि की तैयारी था। अपने कर्तव्य को जानने, समझने और दृढता से पालन करने वाले विद्वान् व सच्चे क्षत्रियों मे अर्जुन अग्रणी थे। ऐसे समय में उन्हें विषाद का घेरना श्रीकृष्ण की मनीषा का ही फल था। यह युद्ध इसके लिए अनुकूलतम परिस्थिति था।

संग्राम के विषय में सोचना तथा संग्राम का उपस्थित हो जाना समान नहीं हैं, इनमें बहुत बड़ा अन्तर है। स्थित-प्रज्ञता की तनिक भी कमी भावुक मानवमन को तुरन्त विचलित कर देती है। उसी समय ऐसे उपदेश की चरितार्थता है। वस्तुतः प्रथम यह अपने से लड़ना है और उसमें विजय पाने पर बाह्ययुद्ध का क्रम है। अतः युद्ध के प्रत्यक्ष वातावरण से भिन्न कोई उत्तम अवसर गीतोपदेश के लिए उत्तम हो ही नहीं सकता था, यही कारण है कि श्रीकृष्ण ने यही समय

चुना। भगवान् कृष्ण की इच्छा ही अर्जुन को प्रश्न पर प्रश्न करने को मुखर कर रही थी।

हम देखते हैं कि ऐसे विषम वृत्तिद्वैध के समय भी ऐसी परिस्थिति के अभाव में इतने बडे उपदेश की आवश्कता नहीं होती । सौ भाग्य से महाभारत में इसके भी अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। यहाँ कृष्ण से ही सम्बद्ध युधिष्ठिर की किंकर्त्तव्यता विमूढता को एवं शोक को दूर करने वाला उपदेश प्रस्तुत है। कृष्ण कहते हैं-

यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम्॥ अश्वमेधपर्व 12/12

तस्मादभ्युपगन्तव्यं युद्धाय भरतर्षभ।
परमव्यक्तरूपस्य पारं युक्त्या स्वकर्मभिः॥ 13

यत्र नैव शरैः कार्यं न भृत्यैर्न च बन्धुभिः।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम्॥ 14

अतः प्रतिपल चलने वाले जीवनसंग्राम में भावुकता की चपेट से मुक्त कर स्थितप्रज्ञता के सुदृढ कवच से आच्छादित करने वाली ब्रह्मपदवेदनसमर्थ उपनिषद् विश्व को देने की दृष्टि से श्रीकृष्ण ने उचित देश-काल तो चुन ही लिया था, अब आवश्यकता थी उचित पात्र की। इसके रूप में उन्होंने अर्जुन को चुना।

वेदांगसहित सभी वेदों धनुर्वेद गान्धर्ववेद अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र आदि विद्याओं में वह पारंगत था। आत्मत्याग कर्तव्यनिष्ठा निर्भीकता शौर्य विनय अनुक्रोश और आनृशंस्य आदि मानवीय गुणों से परिपूर्ण था। सुशिष्य तो था ही धनुर्वेद का आचार्य होने के साथ अध्यवसाय वृत्ति में दक्ष था। वशी संयमी एवं कर्मठ था। क्षात्रतेज और क्षत्रगुण सम्पन्न जैसे क्षत्रिय की कृष्ण को आवश्यकता थी अर्जुन ठीक ही था। वे क्षत्रिय को ही यह विद्या देना चाहते थे। लोकतन्त्र का नायक एवं भौम ब्रह्म का रक्षक वही होता है। ब्राह्मणा ब्रह्मतंत्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति (शान्तिपर्व) के अनुसार ब्राह्मण का स्वरूप स्पष्ट है कि वे अहर्निश ब्रह्मतन्त्र में अवास्थित रहते हैं अतः इस नित्य समाधि के कारण उनका तप कभी नष्ट नहीं होता है। किंतु क्षत्रिय को लोकसंग्रह में लगे रहना होता है उसे उच्चावच कर्म करने होते हैं अतः उसके लिए आवश्यक है कि वह निष्कामभाव से लोकसंग्रह में लगा कर उससे सर्थथा निर्लिप्त रहते हुए स्वरूप भ्रंश न होते हुए आत्मसंस्थ रहे ब्रह्मविद्या और योग शास्त्र में दृढ अभ्यासी हो। इसीलिये प्राचीन काल से ही यह विद्या क्षत्रियों की परम्परा में रही है। श्रीकृष्ण ने गीता में तो कहा ही है, शान्तिपर्व में भी इसका उल्लेख है-

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ 4/1

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता नष्टः पूर्वं परन्तप॥ 2

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तो मेऽसि सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ 3

आदित्य देवों में क्षत्रिय है विवस्वान् प्रथम प्राप्ति हुई। उनसे यह अव्ययय़ोग मनु को मनु से इक्ष्वाकु को तथा उनसे राजर्षियों की परम्परा द्वारा सर्व साधारण तक पहुँचा जो काल क्रम से शनैः शनैः लुप्त हो गया। कृष्ण उसका पुनरुद्धार अर्जुन की पात्रता देख कर उसके माध्यम से करना चाहते थे, अतः तद्नुकूल ही उन्होंने सारा विधान किया। शान्तिपर्व में राजर्षियों द्वारा लोकसमुदाय में लोककल्याण कल्याणर्थ प्रसार की बात स्पष्ट शब्दों में कही गयी है-

त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान् मनवे ददौ।
मनुश्च लोकभूत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ॥ 348/59
इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थितः।

प्राचीन राजर्षि सर्वसाधारण को ब्रह्मज्ञान प्रतिष्ठित करने का व्रत और यत्न करते थे यह इससे स्पष्ट है। महाकवि कालिदास ने विषयों से अनाकृष्ट विद्याओं के पारदृश्वा धर्मरति राजर्षि दिलीप के माध्यम से क्षत्रिय नरेशों के इहलौकिक पितृत्व को बताने में यही दृष्टि दी है-

प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥ रघुवंश 1/24

(वे महाराज दिलीप प्रजाओं में विनयवृत्ति पैदा करने से उनके रक्षण से और भरण से प्रजाओं के पिता थे उनके पिता तो जन्म के कारण होने से केवल जनक थे, संस्कृत में पिता का शाब्दिक अर्थ पालक और जनक का जन्मदाता है) यही दृष्टि है भगवान् कृष्ण की जब वे ''कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'' गीता 3/20 कहते हैं। एक ब्राह्मवेत्ता तथा ब्रह्मन्तत्रस्थ किन्तु सफल शासक के रूप में जनक के प्राथम्य से ऐसे राजर्षियोंको गिनना स्पष्ट बता

रहा है, कि सम्पूर्ण प्रजा का ब्रह्मपदवेदन राजाओं का प्रथम पुनीत कर्तव्य था। 'नराणां च नराधिपं' (101/27) के रूप में राजाओं को अपनी विभूति बताने का भी यही अभिप्राय है।

अर्जुन की सिद्धता होने पर भी यह दुर्लभ ज्ञान कैसे दिया जावे, यह प्रश्न है। सामान्य ज्ञान भी बिना मांगे अर्थात् चाह के बिना न तो दिया जाता है और न उसका कोई महत्त्व ही है। जिसे 'अध्यात्मविद्या' विद्यानाम् (40/32) कहते हुए अपनी विभूति के रूप में सर्वविद्याशिरोमणि बताया और माना गया है, उस गरीयसी विद्या के लिये तो जब तक अति तीव्र जिज्ञासा, गुरु के प्रति गहरी श्रद्धा और प्राप्ति की असाधारण आकुलाहट न हो तब तक वह नहीं दी जाती। भारतीय प्रत्न वाङ्मय साक्षी है, कि जब भी कोई जिज्ञासु आया है उसकी कठोर परीक्षा हुई है। उससे छोटी या बडी निश्चित अवधि तक ब्रह्मचर्य पालन करना मांगा गया है और उस पर भी गुरु को उचित लगा तो उसका उपनयन किया गया है। यह चाय के प्याले पर बैठ कर की जाने वाली यारस्ते चलते की जाने वाली साधारण चर्चा नहीं है। इसके लिए भी श्रीकृष्ण ने अनुकूल परिस्थिति पैदा की।

अर्जुन की इच्छा पर दोनों सेनाओं के मध्य उसका रथ खड़ा किया तथा उससे कहा- ''पश्य एतान् समवेतान् कुरुन्'' (1/25) इन सैनिकों को देखो, इन युद्ध दुर्मदों को देखो तथा 'इन समवेत कुरुओं को देखो' जैसा सायिप्राय वाक्य कहा। इस वाक्य को सुन कर अर्जुन ने भीष्म द्रोण कृप आदि को देखा। इन्हें एकत्र देखते ही मोह का उदय होने से अर्जुन विषण्ण हो गया। विषाद के धरातल पर उसकी सारी गणितप्रक्रिया ही उलटी हो गयी। शास्त्राज्ञान तर्काभासों से विषाद को उत्तरोतर बढ़ाने वाला ही सिद्ध हुआ, परिणाम निकला धनुष-बाण छोड़ कर निष्क्रिय हो बैठ जाना।

यह नहीं कहा जा सकता, कि अर्जुन निर्बल और कार्य कायर था। बाल्यवस्था में ही उसने गुरु द्रोण के सतीर्थ्य, राजाओं में वृद्धतम कौरवों के पराजेता महारथी द्रुपद को जीवित ही पकड़ कर गुरुचरणों में गुरुदक्षिणा रूप में डाल दिया था। युवावस्था में इंद्र से अजेय का लकेय और निवात कवच आदि दुर्धर्ष दानवों को कुचल कर इंद्र को गुरुदक्षिणा दी। राजसूय यज्ञ निमित्तक दिग्विजय में इंद्र के एवम् अपने पिता पाण्डु के सखा महाबली भगदत्त को पराजित किया था। मानवों से अगम्य उत्तर कुरु प्रदेश तक जा कर कर वसूल किया था। विराट के गोधन को पुनः लेने हेतु भीष्म द्रोण कृप दुर्योधन आदि सभी कौरवों को अकेले ही पराजित किया तथा अनुग्रह कर जीवनदान दिया था। अब तो कृष्ण के अनुग्रह से भगवती दुर्गा की विजय का वरदानी भी उसे मिल गया था। अतः यह विरति कायरना मूलक तो तनिक भी नहीं थी। इसमें कारण था कार्पण्य, और उस कार्पण्य का मूल था मोह और अज्ञान। अज्ञानवश अर्जुन को इस युद्ध में धर्मग्लानि लगी। इन पूर्वयुद्धों में अनेकत्र ऐसे लोग थे जिनसे अर्जुन का किसी प्रकार का

सम्बन्ध नहीं था। जहाँ सम्बन्ध था, वहाँ मारना न मारना अर्जुन के हाथ की बात थी। शस्त्र ग्रहण वाला युद्ध ऐसा ही था साथ ही वहाँ धर्म का धरातल प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा था, प्रथम तो गोओं के अपहरणकर्ता आततायी दण्डनीय हैं ही, इससे क्षत्रिय धर्म का पालन होता है। दूसरा कारण था अर्जुन आदि एक वर्ष की अज्ञातचर्या विराट् के यहाँ पूरी कर रहे थे, अतः कृतज्ञता का यह अवसर न जाने देना अतीव स्पृहणीय था। इस युद्ध में ऐसा कुछ नहीं था। 'प्राणाँस्त्यक्त्वा धनानि च' का निश्चय कर युद्ध में डटे योद्धाओं को मारे बिना विजय दुर्लभ थी और विजय का एक मात्र फल था राज्यसुखभोग। इसमें न कृतज्ञाता का भाव था, न धर्मरक्षा थी। केवल भूमिलाभ के लिये भीष्मआदि गुरुजनों और स्वजनों को मारना जघन्यतम पाप है, इसका परिणाम सम्पूर्ण वंश का विनाश तो है ही, अकीर्ति और अनियत नरकवास भी सुनिश्चित है। मोहमूल अज्ञान के कारण अर्जुन के ऐसे विचार थे। वस्तुतः मरना जीना मारना जलाना जिलाना क्या है, किसका है? इसका उद्देश्य क्या है? क्षत्रिय का प्रथम अनिवार्य धर्म क्या है? इस धर्मपालन से व्यष्टि और समष्टिगत उपलब्धि क्या है, जैसे शाश्वत विचार और धर्म को वह भूल गया। वैयक्तिकता से वह ऊपर उठ ही नहीं पाया। उसके विषाद के विषय में भगवान् व्यास कहते हैं -

यं विषादोऽभिभवति विक्रमे समुपस्थिते।
तेजसा तस्य हीनस्य पुरुषार्थो न विद्यते॥ वनपर्व296/25

न विषादे मनः कार्यं विषादो विषमुत्तमम्।
मारयत्यकृत प्रज्ञं बालं क्रुद्ध इवोरगम् ॥ 24

अकृत प्रज्ञ मूर्ख को विषादरूपी विष मार डालता है अतः विषाद नहीं करना चाहिए। विक्रयोचित काल में विषाद जिसे दबोच लेता है, तेजोहीन उस व्यक्ति का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। धर्म अर्थ काम मोक्ष रूपी पुरुषार्थ न रहने पर जीवन नहीं कहाँ? वह जीवन का आभास है। राज्यसुखभोग जैसे तुच्छ स्वार्थ की पूर्त्ति एवं ममत्व की प्रबलता ने अर्जुन को पुरुषार्थच्युत कर दिया। इसी को लक्ष्य कर कृष्ण ने क्लैब्यं मा स्म गमः कहा है। यह विषाद अर्जुन को इतना किंकर्त्तव्यविमूढ बना देता है, कि वह अपना सब कुछ दे कर भी इस स्थिति से छुटकारा पाना चाहता है। अन्ततोगत्वा कोई भी मार्ग न पाकर वह कृष्ण की शरण लेता है कि शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् (2.8) ज्ञान की प्राप्ति का यही मार्ग है। इसके लिए तो जन्मदाता पिता को भी पुत्र के प्रति पूर्ण श्रद्धावनत होना पड़ता है। विनयाभाव में ज्ञानप्राप्ति सम्भव ही नहीं है। यह यथार्थ है यही वैदिक संस्कृति का स्वरूप है। अर्जुन जैसे व्यक्ति के मुख से भी श्रीकृष्ण तो

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां जैसे वाक्य का हल पा कर ही उपदेश देते हैं। जिस अर्जुन के लिये वे अपने शरीर का मांस भी काट कर दे सकते हैं, जैसा कि उन्होंने युधिष्ठिर को कहा है -

तव भ्राता ममा सखा सम्बन्धी शिष्य एव च।
माँसान्युत्कृत्य दास्यामि फाल्गुननार्थे महीपते॥

योग्य शिष्य के सामने गुरु का वत्सल्य ही ज्ञानरूप में प्रवाहित हो उठता है। भगवान् मनु भी यही कहते हैं-

अध्यापयामास पितृन् शिशुरांगिरसः कविः।
पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्यतान् ॥

विषाद अर्जुन को इस प्रह्वता तक पहुँचा देता है तथा कृष्ण को शिष्य की प्राप्ति हो जाती है। गीतोपदेश उसके माध्यम से विश्व को कृतार्थ करता है। अतएव इस अध्याय को भी योग मानकर विषादयोग नाम दिया गया है।

गीता के प्रतिपाद्य विषय को ले कर भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। सर्वसामान्य की मान्यता के अनुसार गीता के कर्म ज्ञान भक्ति रूप तीन स्कंधों का परिचय तो ग्रंथारम्भ में भी ओझाजी ने दे ही दिया है। इसी भाँति केवल कर्मयोग केवल ज्ञान योग और केवल भक्ति योग को प्रकम और उपसंहार की एकवाक्यता के आधार पर विद्वानों ने सिद्ध करने का यत्न किया है। श्री ओझाजी की दृष्टि में ये गीता के प्रतिपाद्य नहीं हैं, आनुषंगिक उपदेश के विषय हो सकते हैं। गीता का प्रमुख प्रतिपाद्य है अव्यय पुरुष का स्वरूप निरुपण। अनुगीता में भगवान् कृष्ण भी अर्जुन को गीता का यही प्रतिपाद्य बताते हैं। शंकर से ले कर आज तक किसी भी विचारक ने यह स्वरूप गीता का नहीं बताया है।

गीता में अभिव्यक्त कृष्ण के नाना रूप तभी बोध्य विषय होंगे, जब गीताध्ययन की विज्ञान दृष्टि होगी। यह कह कर ओझा जी ने मानो यह कह दिया कि गीता की बहिरंग अन्तरंग आदि परीक्षा और गीताविषयक नाना प्रकार के सांशयिक भाव तभी प्रसार पाते हैं, जब हम गीता के गायक श्रीकृष्ण के आधिकारिक रूप को नहीं देखते हैं। जो विज्ञान दृष्टि से गीता के स्वाध्याय द्वारा कृष्ण के मानुष और दिव्य दोनों प्रकार के रूपों को ठीक समझ लेता है, उसके लिए गीता में कहीं कुछ भी कमी नहीं है। श्री ओझाजी का यह विचार पूर्णतया ठीक है और दर्शन से प्रमाणित है। एक दूसरे के विपरीत दो विद्वानों के उदाहरण द्वारा इसकी प्रामाणिकता को देखते हैं।

डॉ. गजानन श्री खैर की गीता पर एक पुस्तक है 'मूलगीते चा शोध'। लेखक ने बताया है कि गीताके तीन लेखक

हैं तथा तीन ही पृथक् पृथक् कालखण्ड हैं। प्रथम लेखक ने कर्मयोग का तत्त्व बताया है, दूसरे ने उसका व्यवहार बताया है, तीसरे लेखक ने पूर्व विद्यमान द्वादशाध्यायात्मक सम्पूर्ण गीता के अनुसार भक्तियोग का संस्कार किया है। काल तथा समाज की आवश्यकता के अनुसार गीता का विस्तार हुआ है। प्रथम लेखक की गीता प्रथम छः अध्याय की हो गयी। तीसरे लेखक ने तीन कार्य किये-

1. प्रथम और द्वितीय लेखकों की गीता में जगह जगह अपने श्लोक जोडे।
2. अध्याय क्रम में परिवर्तन किय।
3. छ अध्याय और जोड़े।

यही आज की गीता है। आज की गीता के 8,13,14,15,17 व 18 अध्याय वस्तुतः दूसरे लेखक की रचना है जो 8 से 12 थे। इस प्रकार तीसरा लेखक मध्य में आ बैठा। क्रमशः लाल नीली और काली स्याही प्रथम द्वितीय तृतीय लेखक के लिए नियत कर श्री खैर ने पूरी गीता मुद्रित कराकर तीनों लेखकों के पाठ को पृथक् पृथक् बताया है। उदाहरणार्थ प्रथम अध्याय का शीर्षक 'अर्जुन विषादयोग' 20 से 37 तथा 45-47 श्लोक प्रथम लेखक के हैं जो लाल स्याही से ज्ञात होता है। 1 से 18 तथा 38 से 44 पद्य तीसरे लेखक के हैं, काली स्याही में। सम्पूर्ण गीतापाठ इस प्रकार मुद्रित है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि लेखक को न तो महाभारत अपने रूप में मान्य हैं और न गीता। श्रीकृष्ण एवं वेदव्यास के ज्ञान की इयत्ता को भूलकर भाषाभेद के लचीले वा भ्रामक आधार पर गीता की ऐसी मीमांसा विकृत मस्तिष्क के बौद्धिक व्यायाम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। यहाँ 'यदा यदा हि धर्मस्य' 4/17 पद्य को दूसरे लेखक का माना गया है। यह पद्य महाभारत में सभा पर्व में भी आया है, वहाँ भारत के स्थान पर सत्तम सम्बोधन है। ऐसे ही स्वल्प परिवर्तन के साथ अनेक स्थलों पर द्रष्टव्य है। इसके पाद व पादांश भी अनेकत्र मिलते हैं अनेकत्र इसका भावानुवाद। गीता के ऐसे सैकडों पद्य हैं, जो कहीं पूरे कहीं आधे, कहीं पादशः तो कही भाव रूप से महाभारत के विभिन्न पर्वों में छितरे पड़ें है। क्या दूसरे तीसरे लेखकों के पद्य महाभारत में भी डाले गये है? जिन्होंने कृष्ण को समझा नहीं है, समझना चाहा नहीं है, जिन्हें पाण्डित्य का और विवेकशीलता का मिथ्या गर्व है, वे ऐसा ही गीतालोचन करते हैं। ऐसे लोगों के लिए कृष्ण के ये वाक्य -

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगामायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

मोघाशा मोघकर्माणे मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥

सर्वथा खरे उतरते है और श्री मधुसूदन जी की दृष्टि में ऐसे लोग कभी भी गीता और गीताकार को नहीं समझ सकेंगे।

इनसे सर्वथा विपरित हैं आचार्य अक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय। इनकी कृतिहैः- 'गीता में भगवान् श्रीकृष्ण का परिचय और उपदेश'। इसे देखने से ऐसा लगता है, मानो ओझाजी के विचार ही पढ़े जा रहे हैं। यदि इनका परिचय गीता के विज्ञान भाष्य से है तो निश्चय ही इन्होंने ओझाजी को भलीभाँति आत्मसात् कर लिया है। यदि गीता विज्ञानभाष्य से इनका परिचय नहीं हैं, तो यह विलक्षण समानता सिद्ध करती है कि ठीक प्रकार से किया गया स्वाध्याय निष्कर्षों की समानता का जनक होता है।

इस प्रकार श्री ओझाजी की दृष्टि की साधुता प्राचीन वाङ्मय तथा लोकदर्शन से पूर्णतः प्रमाणित होती है। इसमें कहीं भी कल्पना की उडान नहीं है। न केवल गीता ही, अपितु किसी भी शास्त्र के अन्वेषणपूर्ण अध्ययन हेतु अध्येता के लिए एकमात्र यही सरणि है।